



Knowledge Consortium of Gujarat

Department of Higher Education - Government of Gujarat

Journal of Humanity

ISSN: 2279-0233

Continuous issue - 21 | December 2015 - January 2016

आज़ादी के बाद आदिवासी आन्दोलनों में बदलाव

आज़ादी के बाद हुए आदिवासी आन्दोलनों के मुद्दों में क्या बदलाव आए हैं ? इस लेख में आदिवास आन्दोलन के वर्गीकरण के आधार का विश्लेषण करते हुए, आज़ादी के बाद आदिवासी आन्दोलनों में आए बदलावों को देखने की कोशिश की गई है, "बहुत सारे विद्वान आदिवासी आन्दोलनों को कृषक आन्दोलनों के रूप में मानते हैं," (रणजीत गुहा, 1983, p. 24) जबकि आदिवासियों के केन्द्रीकरण के मुद्दे और राजनैतिक लामबन्दी की कार्य प्रणाली अन्य कृषक आन्दोलनों से भिन्न होती है। के.एस. सिंह इस संदर्भ में कहते हैं कि, "जबकि कृषक आन्दोलनों में शुद्धतः कृषिय होने की प्रवृत्ति होती है क्योंकि कृषक लोग भूमि से गुजारा करते हैं, जबकि आदिवासी आन्दोलन कृषि और जंगल दोनों पर आधारित होते हैं। आदिवासियों की जंगलों पर निर्भरता उतनी ही निर्णायक है जितनी निर्भरता उनकी भूमि पर होती है इसके साथ ही नृ-जातिक कारण भी महत्त्वपूर्ण था। आदिवासी विद्रोह जमीनदारों, सूदखोरों और छोटे सरकारी अफसरों के खिलाफ केवल इसलिये नहीं थे क्योंकि वे उनका शोषण करते थे बल्कि इसलिये भी होते थे क्योंकि वे बाहरी व्यक्ति थे। आदिवासियों की विभिन्न संरचनाएँ विभिन्न आन्दोलनों से जुड़ी होती है। कृषकों सहित किसी भी अन्य समुदाय की तुलना में ये अधिक विद्रोह करते थे और विद्रोह अधिक हिंसक भी होते थे।" (1986, p. 116)

आदिवासियों में चलने वाले सामाजिक आन्दोलनों को देखकर लगता है कि कहीं तो आदिवासी विद्रोही हो जाते हैं, कहीं सुधारवादी और कहीं पुनर्जागरणवादी। वास्तविकता यह है कि आन्दोलन विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक स्थिति की देन है। भारत में हुए अन्य आन्दोलनों को जाति के साथ जोड़ कर भी देखा जाता है। इसलिये अन्य आन्दोलनों से आदिवासी आन्दोलन का अलग स्वरूप में होना लाजमी है। क्योंकि जाति और आदिवासी की सांस्कृतिक विशेषताएँ अलग हैं। "आदिवासी और जाति के बीच अंतर के मोटे रूप में पाँच पहलु हैं। (1) सामाजिक, (2) राजनैतिक, (3) आर्थिक, (4) धार्मिक और (5) मनोवैज्ञानिक। इन पहलुओं के उपरान्त जीवन प्रणालियाँ, प्रथा, भोजन प्रतिमान, सौपान, जीवन दृष्टिकोण आदि क्षेत्रों में भी विभेद साफ तौर पर दिखाई देता है।" (के.एस.शर्मा, 2010, p. 88)

प्राचीन समय से जनसंख्या दबाव ना होने के कारण आदिवासी क्षेत्रों के साथ तथा कथित सभ्य समाज का आकस्मिक संपर्क रहा है। इसी कारण इन इलाकों के बारे में हमें प्रमाणभूत आधार नहीं मिलते। वैसे भी भारतीय इतिहास के बारे में भी प्रमाणभूत आधार की उपलब्धि की कमी के कारण यह कार्य ज्यादा मुश्किल हो जाता है। "आधुनिक अर्थों में जिसे इतिहास लेखन कहा जाता है उस रूप में आरम्भिक भारत के विषय में इतिहास लेखन की शुरुआत ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी की स्थापना के परिणामस्वरूप ही हुआ।" (डी.एन.झा, 2009, p. 15) यहाँ गौर करने जैसी बात है कि आदिवासी असंतोष की शुरुआत भी ब्रिटिश राज के बाद ही हुई है। "जब अंग्रेजों ने देश में अपनी स्थिति मजबूत कर ली तब उनको अपनी औपनिवेशिक आकांक्षाओं और प्रशासनिक आवश्यकताओं ने एक प्रभावि संचार व्यवस्था के माध्यम से समुचे देश को खोलना आवश्यक हो गया। अंग्रेजों ने भू-स्वामित्व एवं राजस्व व्यवस्था शुरू कर दी। वार्षिक कर ती-गुना कर दिया गया जो आदिवासी किसानों के भुगतान सामर्थ्य से बाहर था। जनसंख्या के बढ़ते दबाव के अंतर्गत अनेक बाहरी लोग भी आदिवासी क्षेत्रों में बसने लगे। अपनी धन-शक्ति से उन्होंने घर-घर जा कर ऋण सुविधाएँ उपलब्ध करवा दी। प्रारम्भ में तो आदिवासी लोगों को बड़ा सुकून मिला लेकिन धिरे-धिरे यह व्यवस्था शोषणवादी हो गई। नवगठित न्यायालयों ने शोषकों की ही सहायता की। इन आर्थिक तथा बाद में सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण में आदिवासी नेताओं को, आदिवासियों को उकसाने और आन्दोलनों के लिये जागृत करने के लिये बाध्य किया। वंचना की भवनाओं के साथ जन-आन्दोलन भी बढ़ने लगे।" (राम आहुजा, 2011, p. 268)

इस तरह आदिवासी असंतोष की शुरुआत ब्रिटिश राज की नई नीतियों के कारण हुई। आजादी के पहले और बाद में हुए आदिवासी आन्दोलनों की प्रकृति स्पष्ट रूप से अलग है। इस लेख में हम आदिवासी आन्दोलनों का वर्गीकरण और आजादी के बाद में हुए आदिवासी आन्दोलनों के मुद्दों का विश्लेषण करेंगे।

इस संशोधन में दो उद्देश्य ध्यान में रखे गए हैं। १) आदिवासियों के आन्दोलन का किस आधार पर वर्गीकरण किया जाता है ? और २) आज़ादी के बाद आदिवासियों के आन्दोलन में क्या बदलाव आया है ?। इस संशोधन में गौण स्रोत का उपयोग किया गया है और इसके आधार पर वर्णनात्मक विश्लेषण प्रयुक्त का उपयोग करते हुए उद्देश्यों के संदर्भ में समझ प्राप्त करने की कोशिश की गई है।

आदिवासी आन्दोलनों का अध्ययन और वर्गीकरण-

आदिवासी आन्दोलनों पर बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। क्योंकि आदिवासियों को मुख्य समाज का हिस्सा नहीं माना जाता था और लिखित भाषा का अभाव होने के कारण विश्वसनीय लिखित साहित्य नहीं मिलता। फिर भी जो थोड़े अध्ययन हुए हैं उसका संक्षिप्त विवरण देखे तो सबसे महत्वपूर्ण योगदान प्रो. के.एस.सिंह द्वारा संपादित ट्राईबल मूवमेंट इन इण्डिया है। जो तीन भागों में प्रकाशित ग्रन्थ है। (1982, 1983, 1998). इसके अलावा "के. के.दत्ता का "द संथाल इंसेक्शन ऑफ 1855-57" (1940), के.एस.सिंह (1966) का बिरसा मुण्डा आंदोलन का अध्ययन, जे.सी. झा का "कोल विद्रोह 1831-32" (1964) का और "भूमिज विद्रोह 1832-33"(1967) का अध्ययन हैमंडोर्फ और डेविड ऑरनाल्ड का आन्ध्र प्रदेश के रम्पा विद्रोह का अध्ययन (1955/1982) और एल.पी.माथुर द्वारा किया गया राजस्थान के भीलों के विद्रोह का अध्ययन (1988). उत्तर-पूर्व में हुए आंदोलनों के अध्ययन में स्टेफन फ्यूच 1967 का काबुल संघर्ष का अध्ययन, डी.मुखर्जी का झेली-आंगोम आंदोलन का अध्ययन, कच्छा-नागाओं का 1881-1930 के बीच का "मसीही आन्दोलन" (1982) और मणिपुर में 1917-1990 के बीच "कुकी विद्रोह" का गौतम भद्रा 1975 का अध्ययन सम्मिलित है। रघुवैया (1971) ने 1778 से 1971 के बीच हुए 70 आदिवासी विद्रोहों की एक सूची बनाई है। उन्होंने इन विद्रोहों का काल-क्रम भी दिया है।" (घनश्याम शाह, 2009, p. 80-81). इस तरह के अध्ययनों में ज्यादातर आन्दोलन के तरीके और नेतृत्व का ही विश्लेषण किया गया है। इसके अलावा एल.के. महापात्रा और सुरजीत सिन्हां के अध्ययन भी महत्वपूर्ण हैं। सुमित सरकार ने (2001) में आदिवासी आन्दोलनों को, "इतिहास को नीचे से देखने" की दिशा के संदर्भ में विश्लेषित किया है। जिसमें आन्दोलन में हिस्सा लेने वाले सामान्य आदिवासीओं की निजी जिंदगी में हो रहे बदलावों को भी रेखांकित किया गया है। इस तरह के अध्ययन ने आदिवासी आन्दोलन के अध्ययन की दिशा को बदलने का प्रयास किया है।

विभिन्न विद्वानों ने आदिवासी आन्दोलनों का विभिन्न रूप से वर्गीकरण किया है। "महापात्रा (1972) ने उस वर्गीकरण का प्रयोग किया है जो व्यापक रूप में सामाजिक आन्दोलन के लिये प्रयोग किया जाता है। 1. प्रतिक्रियावादी, 2. रूढ़ीवादी, 3. संशोधनवादी या क्रान्तिकारी। सुरजीत सिन्हां (1968) ने आन्दोलनों को 1. नृ-जातिय विद्रोह, 2. सुधार आन्दोलन, 3. भारतीय संघ में राजनैतिक स्वायत्तता हेतु आन्दोलन, 4. पृथकतावादी आन्दोलन और 5. कृषिहर असंतोष। के.एस. सिंह (1983) ने भी लगभग इसी प्रकार का वर्गीकरण किया है। केवल उन्होंने सुधार आन्दोलनों की जगह संस्कृतिकरण शब्द का और नृ-जातिक आन्दोलनों की जगह सांस्कृतिक आन्दोलन शब्द का प्रयोग किया है। एस.एम. दुबे (1982) ने उत्तर-पूर्वीय भारत के आदिवासी आन्दोलनों को चार कोटियों में बांटा है- 1. धार्मिक और सुधार आन्दोलन, 2. पृथक राज्य हेतु आन्दोलन, 3. बगावती आन्दोलन और 4. सांस्कृतिक अधिकार आन्दोलन। इन वर्गीकरणों में उन आधुनिक आन्दोलनों को सम्मिलित नहीं किया गया है जो जंगल के अधिकारों, पर्यावरण तथा बाजार और राज्य की विकास योजनाओं के कारण हुए आदिवासियों के विस्थापन के मुद्दों को लेकर किये गए।" (शाह, 2009, p. 82). आदिवासी आन्दोलनों को अब नए सामाजिक आन्दोलनों के संदर्भ में देखने की जरूरत बताते हुए के.एस. सिंह ने लिखा है कि, "पिछले कुछ वर्षों में उत्तर-आधुनिक काल में मूल निवासियों के अंतर्राष्ट्रीय आन्दोलनों के उद्भव के साथ संसाधनों के आत्म-निर्णय या स्व-प्रबन्धन, पहचान और नृ-जातियता जैसे मुद्दों पर लोगों का ध्यान केंद्रित हुआ है। पर्यावरणात्मक आन्दोलनों ने समुदायों, संसाधनों के साथ उनके संबंध, प्रकृति के साथ उनका संपर्क और उनका विश्व-दृष्टि पर केंद्रित किया है। अतः पर्यावरण के संबंध में लोगों की बढ़ती हुई चिंता विशेषतः जैव-विविधता, बहुलतावाद नृ-जातियता और पहचान ये सभी मुद्दे आपस में जुड़े हुए हैं। इसके कारण आदिवासी आन्दोलन नया स्वरूप ग्रहण करते जा रहे हैं।" (1998, p. 9-10). के.एल. शर्मा ने आदिवासी आन्दोलनों को "1. धार्मिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन, 2. राज्य निर्माण आन्दोलन, 3. विद्रोही आन्दोलन और 4. संस्कृतिपरक आन्दोलन" (2006, p. 176) में वर्गीकृत किया है।

घनश्याम शाह ने आदिवासी आन्दोलनों को "1. नृ-जातिय आन्दोलन, जिसमें संस्कृति/धर्म, पहचान भी सम्मिलित है, 2. कृषि और वन-अधिकार आन्दोलन, 3. पर्यावरणवादी आन्दोलन, 4. अनैच्छिक विस्थापन और पुनःस्थापन आन्दोलन और 5. राष्ट्रीयता के प्रश्न से जुड़े पृथक राज्य के मुद्दे को लेकर राजकीय आन्दोलन, में वर्गीकृत किये हैं। ये पाँचों प्रकार न केवल परस्पर व्यापी हैं अपितु एक दुसरे से जुड़े हुए भी हैं।" (2009, p. 82). आदिवासी आन्दोलनों पर अध्ययन करने वाले विद्वानों ने ज्यादातर सामाजिक आन्दोलनों के आधार पर आदिवासी आन्दोलनों को परिभाषित करने की कोशिश की है। उपरोक्त वर्गीकरण को देख कर लगता है कि, के एस सिंह और घनश्याम शाह ने आदिवासी आन्दोलनों की जड़ों तक जाने की कोशिश की है। अब हम आज़ादी के बाद हुए आदिवासी आन्दोलनों के मुद्दों पर चर्चा करेंगे।

आज़ादी के बाद आदिवासी आन्दोलनों के मुद्दे-

भारत में आदिवासी आन्दोलनों की शुरुआत ब्रिटिश राज की नीतियों के कारण हुई। तब से लेकर आज तक हुए आदिवासी आन्दोलनों के मुद्दे भी बदले हैं। इस संदर्भ में बी.के. रायबर्मन का कहना है कि, "ओपनिवेशिक काल में जन-जातियों में अशांति व्यापक रूप में फैली हुई थी। प्रत्येक जनजाति के अपने कारण थे। समकालीन समाज में जनजातियों की चुनौतियाँ सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के लिये चुनौतियाँ बन चुकी थीं। हमें इस पर विचार करना होगा कि यदि चुनौतियाँ आज भी बनी रही तो वैश्विक आयाम का स्वरूप ले सकती हैं। यहाँ पर कहना उचित ही लगता है कि, ब्रिटिश शासन में जो आदिवासियों के आन्दोलन अन्याय, शोषण और अत्याचार के विरुद्ध हुए थे, स्वतन्त्र भारत में आज भी आदिवासी आन्दोलन थम नहीं हैं और उनकी मांगें अब काफी बदल चुकी हैं।" (1978, p. 317)

1947 में भारत को अंग्रेज शासन से मुक्ति मिली। "आजादी एक लम्बे गौरवपूर्ण संघर्ष के बाद हासिल की गई थी और इससे करोड़ों लोगों का सपना पूरा हुआ था" (बिपिन चन्द्र, 2009, p. 465)। आजादी के बाद भारत के पुनर्निर्माण की योजनाएँ बनाई गईं लेकिन आदिवासियों की समस्याओं पर कम ध्यान दिया गया। इसलिये आजादी के बाद आदिवासियों ने अपनी मांगों को लेकर आन्दोलन किये। कुछ आन्दोलन तो ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं।

के.एस. सिंह ने एन्थ्रोपोलजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1976 को आधार बना कर आजादी के बाद के आन्दोलनों को "1. राजनैतिक स्वायत्तता से जुड़े आन्दोलन, 2. कृषक और जंगल आधारित आन्दोलन, 3. संस्कृतिकरण आन्दोलन, 4. लिपी और भाषा आधारित आन्दोलन" (1998, p. 55). जैसे हिस्सों में बांटा है।

आजादी के बाद हुए आदिवासी आन्दोलनों में स्वायत्तता के आन्दोलन मुख्य रहे। "स्वतन्त्रता से पहले और बाद में कई आदिवासियों ने 'स्वायत्तता' प्राप्त ऐसे राज्य या जिले बनाने की मांग को लेकर आन्दोलन किये जिनमें वे अपने कार्यों की स्वयं देखभाल कर सकें। ये लोग गहरे रूप से ये अनुभव करते हैं कि, विदेशी शासकों और बाहरी लोगों ने उनकी संस्कृति और अर्थव्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। भारत संघ के भीतर या बाहर एक राज्य या एक जिले के रूप में एक पृथक राजनैतिक सत्ता जैसी मांगे पूर्वी और मध्य भारत तथा उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेश की अनेक आदिवासी जातियों द्वारा भी की गईं" (शाह, 2009, p. 88)। पृथक राज्य की मांग को लेकर आन्दोलन का प्रारम्भ नागा जाति ने किया। "पूरे पचास के दशक में जब भारत सरकार कश्मीर घाटी पर अपनी पकड़ मजबूत बनाने की कोशिश कर रही थी तो इसकी प्रभुसत्ता और वैधता को हिमालय के दूसरे छोर पर भी चुनौति दी जा रही थी। यह नई दिल्ली की नागा समस्या थी जिसे कश्मीर समस्या की तुलना में दुनिया में कम लोग जानते थे। हालांकि यह इससे भी पुरानी और कठिन समस्या थी" (रामचन्द्र गुहा, 2012, p. 325)। आन्ध्रप्रदेश में गौण्ड राज्य की मांग भी तेज हो रही थी। यह आन्दोलन 1950 से प्रारम्भ हुआ और 1962-63 तक चला। गौण्ड राज्य की स्वायत्तता का यह आन्दोलन बीच में ही मर गया। 1960 के दशक में गुजरात के डांग जिले के आदिवासियों ने स्वायत्त राज्य की मांग की थी। इस आन्दोलन को केवल कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया (मार्क्सवाद) का ही सहयोग था। यह आन्दोलन भी निष्फल हुआ। 1940 के दशक से प्रारम्भ हुआ झारखण्ड आन्दोलन कई अवस्था से गुजरता हुआ 2000 में अलग राज्य की रचना के बाद समाप्त हुआ। छोटा नागपुर के औरांव, मुण्डा और हो आदिवासी जातियों ने इसमें हिस्सा लिया था। इस अवधि में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा नामक राजनैतिक दल भी बना था।

1967 के आसपास महाराष्ट्र के धुलिया क्षेत्र के आदिवासी कृषक आन्दोलन करते आ रहे थे। बहुत बड़ी तादाद में यहाँ के आदिवासियों की कृषि भूमि गैर-आदिवासियों के हाथ में चली गई थी। आदिवासी संगठित हुए और आन्दोलन किया। जिसके फलस्वरूप 1975 में महाराष्ट्र सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा आदिवासी भूमि के हस्तांतरण पर रोक लगा दी। "1960 के दशक में पश्चिमी बंगाल और आन्ध्रप्रदेश में नक्सलवादी आन्दोलन के प्रमुख घटक आदिवासी थे। जो शोषण के लिये लड़े और 1969-70 तक में बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और आन्ध्रप्रदेश के आदिवासी भूमि हड़प के विरुद्ध आन्दोलन में शामिल हुए। इसमें न्यूनतम वेतन, ऋणों को समाप्त करना और भू-स्वामियों के शोषण का विरोध भी जुड़ा था" (शाह, 2009, p. 86)। यह आन्दोलन आज भारतीय संघ का सबसे बड़ा घरेलू संकट माना जाता है। "1970 में पूर्वी भारत में मिजो आन्दोलन चला जो स्वायत्त राज्य की मांग से प्रारम्भ हुआ था और अप्रैल 1970 में मेघालय राज्य के गठन के बाद समाप्त हुआ" (राम आहुजा, 2011, p. 272)। 1968 से आसाम के बोडो आदिवासी स्वायत्तता की मांग को लेकर आन्दोलन कर रहे हैं। जिसका प्रभाव हाल ही में (2012) में हुई कोकराझार हिंसा में भी देखा जा सकता है। बोडो की समस्याओं के निराकरण हेतु 'बोडो स्वशासी परिषद' की भी स्थापना की गई।

संस्कृतिकरण और लिपी-भाषा आधारित आन्दोलन भी स्वायत्तता के लिये और शोषण-विरुद्ध चल रहे आन्दोलन के साथ-साथ चलते रहे हैं। "डेविड हार्डिगमन ने सूत और पश्चिम भारत के आदिवासियों में संस्कृतिकरण के आन्दोलनों का अध्ययन किया है। वे कहते हैं कि, भगवतवाद आदिवासियों को एक खास तरह की राजनैतिक चेतना देता है, जिससे वे शोषण का विरोध करते हैं। अपनी पहचान के लिये

आदिवासियों ने एक नया आन्दोलन चलाया है। सभी ओर उनकी भाषा और लिपी बदल रही है। जिस जाति की भाषा नहीं होती वह जाति अपना अस्तित्व खतरे में है ऐसा महसूस करती है। छोटा नागपुर के आदिवासी इस प्रयास में है कि, उनकी संस्कृति का पुनर्द्वार हो। वे अपने अतीत के प्रतिकों को वापस लाना चाहते हैं" (एस.एल. दोषी, 2009, p. 472-73)। कई विद्वानों में धर्म भाषा पर किये गये आन्दोलनों की व्याख्या करने के संदर्भ में मतभेद है। "एन.के. बोस (1967) ने इन आन्दोलनों को जो आदिवासियों के धर्म और भाषा के आधार पर हुए हैं उसको 'उपराष्ट्रवाद' के उद्भव की बात कही है। इसके विपरीत रॉय बर्मन (1969) ने इसे 'अवराष्ट्रवाद' कहा है। उनके अनुसार जन-जातियाँ एक प्रगतिशील आन्दोलन में रत हैं। यह जन-जातियवाद की आदिम व्यवस्था से राष्ट्रवाद की ओर बढ़ने का एक कदम है" (घनश्याम शाह, 2009, p. 89)।

आधुनिक काल में 'विकास' पर सर्वाधिक जोर देने के कारण आदिवासी आन्दोलनों में वनभूमि विस्थापन और पारिस्थितिकीय मुद्दे भी केन्द्र में आने लगे। "नई खनन और बांध परियोजनाओं के लिये जल्दी से आदिवासी भूमि अधिगृहित कर ली गई। इस प्रक्रिया में लाखों आदिवासियों को पर्याप्त मुआवजे और समुचित पुनर्वास की व्यवस्था किये बिना विस्थापित कर दिया गया। राष्ट्रीय विकास और आर्थिक समृद्धि के नाम पर इस कार्य को न्यायोचित ठहराया गया" (एन.सी.ई.आर.टी., 2007, p. 104)। इस संदर्भ में घनश्याम शाह ने लिखा है कि, "एक अनुमान के अनुसार भारत में 1950 और 1990 के बीच में 213 लाख लोग सींचाई योजनाओं, आणविक उर्जा संयंत्र, वन्यजीवन संरक्षण संस्थान, उद्योग आदि के कारण विस्थापित हुए हैं। ये लोग बहुदा जबरन विस्थापन के विरुद्ध प्रतिरोध प्रकट करते हैं। कुछ क्षेत्रों में उनके प्रतिरोधों ने संगठित आन्दोलन का रूप धारण कर लिया है। 1985 में नर्मदा बांध के विरुद्ध हुआ आन्दोलन इसी तरह का आन्दोलन था" (शाह, 2009, p. 90)।

उड़िसा में 2006 में आदिवासियों ने एक स्टील कम्पनी द्वारा उनकी कृषि भूमि हड़पने के विरोध में आन्दोलन किया था। "2 जनवरी 2006 को पुलिस ने आदिवासियों के एक समूह पर गोलियाँ दाग दी। इस गोली काण्ड में बारह लोग मारे गए और बहुत सारे घायल हो गये। पिछले 23 दिनों से आदिवासियों ने कृषि भूमि छीन लेने के विरोध में कलिंगनगर राजमार्ग को रोक रखा था। उड़िसा में आदिवासियों के संघर्ष और उनके हिंसात्मक प्रतिशोध की कहानी यह उजागर करती है कि भूमि और प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित झगड़े भारत के विकास की चुनौति के केन्द्र बिन्दु रहे हैं" (एन.सी.ई.आर.टी., 2007, p. 106). "These movements stands for rights to land, water, forest and minerals resources. This is the challenge of 2012 and beyond." (Sunita Narayan, 2012, p. 5)

आजादी के बाद हुए आन्दोलनों को वर्गीकरण के आधार पर देखें तो सुधार आन्दोलन (संस्कृतिपरक), स्वायत्तता हेतु आन्दोलन और विस्थापन एवं प्राकृतिक संसाधनों के नियन्त्रण के लिये किये गए आन्दोलन आदि शामिल हैं। फिर भी भारत के विभिन्न भागों में हुए आन्दोलनों में काफी विविधताएँ देखने को मिलती हैं। आदिवासी आन्दोलनों की प्रकृति, उनकी एकजुटता और उठाए गए मुद्दों के संदर्भ में कई विभिन्न कारकों पर निर्भर करती है।

आदिवासी आन्दोलनों के मुद्दों का विश्लेषण करने के बाद स्पष्ट होता है कि, आदिवासी आन्दोलन के कई मुद्दे बदले हैं और कई मुद्दे आज भी थोड़े बदलाव के साथ देखे जा सकते हैं। साहूकारों और अफसरों द्वारा शोषण के प्रतिरोध का स्थान वनभूमि विस्थापन के मुद्दे पर प्रतिरोध ने ले लिया है। तो सामाजिक-धार्मिक सुधार आज भी आन्दोलन के मुद्दों के रूप में विद्यमान है। राजकीय स्वायत्तता, पृथकता, सांस्कृतिक पहचान जैसे नए मुद्दे उभर कर सामने आए हैं। अब आदिवासियों के सामने अपनी पहचान बचाने का गम्भीर प्रश्न पैदा हुआ है। विकास की वर्तमान अवधारणा एक समान शिक्षा प्रणाली के कार्यान्वयन से आदिवासियों के शिक्षित वर्ग में फैलती जा रही है। साथ ही साथ विकास के कार्यक्रम उन्हें अपनी भूमि से विस्थापित कर रहे हैं। अब भविष्य में आदिवासी आन्दोलनों के मुद्दों के बदलने की संभावनाओं को भी देखा जा सकता है।

References:

1. Ahuja, Ram. (2011). Indian Society. Jaipur: Rawat Publication.
2. Doshi, S.L. (2009). Contemporary Anthropology. Jaipur: Rawat Publication.
3. Doshi, Tina. (2011). Bharatna adivasi aandolano.(Gujarati). Ahmadabad: Parshva Prakashan.
4. Guha, Ramchandra. (2012). India After Gandhi. New Delhi: Penguin.
5. Guha, Ranjit (1983). Elementary Aspect of Peasant Insurgency in Colonial India. New Delhi: OUP.
6. Jha, D.N. (2009). Early India: A Concise History. New Delhi: Manohar Publishers.
7. Narayan, sunita. (2012). January 1-15). Editorial. Down to earth.
8. N.C.E.R.T. (2007). Indian Society. New Delhi: N.C.E.R.T.
9. Roy Barman, B.K. (1978). Social Movement in India. In 'Social Movement in India' by M.S.A. Rao. New Delhi: Manohar Publication.
10. Shah, Ganshyam (2009). social movement in India: A Review of Literature. New Delhi: Sage

Publication.

11. Sharma, K.S. (2011). Indian Social Structure and Change. Jaipur: Rawat Publication.
12. Sinh, K.S. (1986). Agrarian Dimension of Tribal movement. in 'Agrarian Struggle in India after Independence' Edited by A.R. Desai. New Delhi: OUP.
13. Sinh, K.S., (Ed.)(1998) Antiquity to Modernity in Tribal India: Tribal Movement in India. vol.-IV, New Delhi: Inter-India Publication.
14. कौर, अमृत बसरा. (२००३) १७५७ से १८५७ के बीच ब्रिटिश भारतमे जन विद्रोह. आर. एल. शुक्ल संपादित 'आधुनिक भारत का इतिहास' में, नई दिल्ली: हिं.मा.का.नि.
15. चन्द्र, बिपिन (२००९). भारत का स्वतंत्रता संघर्ष. नई दिल्ली: हिं.मा.का.नि.
16. सरकार, सुमित. (२००१). आधुनिक भारत. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
17. सिंह, विनय - जन्मेजय सिंह. (२००५). भारतमे सामाजिक आन्दोलन. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.

जितेन्द्र देबरिया

सहायक प्राध्यापक,

महादेव देसाई ग्रामसेवा महाविद्यालय,

गुजरात विद्यापीठ, सादरा